ISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 2, Issue 01, Jan 2019

राजनीतिक चेतना के संवाहक के रूप में स्वामी दयानन्द सरस्वती

[1]डॉ0 अनुपमा श्रीवास्तव

[1]एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, ज0ला0ने0मेमो0 परा0 महाविद्यालय, बाराबंकी

Received: 07 Jan 2019, Accepted: 13 Jan 2019 ; Published on line: 15 Jan 2019

Abstract

स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्य समाज के संस्थापक और सत्य के अन्वेषक थे। उन्होंने हमारे आत्म–सम्मान और प्रबल मानसिक जागरण के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। स्वामी जी ने भारत के गौरवपूर्ण अतीत को आलोकित किया और देशवासियों को अपनी पतित अवस्था से ऊपर उठाकर भविष्य की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी। दयानन्द की महानता इस बात में थी कि उन्होंने ऐसे युग में भारतीय राष्ट्रवाद में प्राण फूंके, जब देश विदेशी साम्राज्यवाद के लोह शिंकजे में कसा हुआ था।

शब्द कुंजी – आर्यसमाज, आर्यावर्त, पुर्नजागरण, भारतीय राष्ट्रवाद, स्वराज, स्वदेशी।

Introduction

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में नवजागरण आन्दोलन का विशेष महत्व है। भारत की राष्ट्रीयता मुख्यतः आध्यात्मिक थी तथा इसने एक राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण करने से पहले अनेक धार्मिक व सामाजिक आन्दोलन का सूत्रपात किया। आर्यसमाज के संस्थापन स्वामी दयानन्द पहले भारतीय थे जिन्होंने 'भारत भारतीयों के लिए' का आह्वान किया। स्वामी दयानन्द स्वराज्य के सर्वप्रथम संदेशवाहक थे तथा स्वराज्य स्वदेशी स्ववेषभूषा, स्वभाषा तथा स्वाभिमान के प्रबल उद्घोषक थे। स्वामी दयानन्द सम्भवतः भारत में नमक–कानून का विरोध करने वाले पहले नेता थे। महात्मा गांधी ने 1930 ईसवी में भारत को स्वाधीन कराने के लिए जो अवज्ञा आन्दोलन छेड़ा था, उसमें नमक–कानून को तोड़कर इसे बनाने पर बल दिया गया था, क्योंकि नमक बनाने पर लगाये गये कर का बोझ भारत की गरीब जनता पर सबसे अधिक पड़ता था। गांधी जी इस आन्दोलन से लगभग आधी शताब्दी पहले स्वामी दयानन्द ने 1875 ईसवी में प्रकाशित अपने सत्यार्थप्रकाश में नमक–कर की कड़ी आलोचना की थी। ब्रिटिश सरकार के द्वारा सरकारी अदालतों में आवेदन–पत्र देते समय और मुकदमें दायर करते हुए जो स्टाम्प पेपर लगाना होता था, उसकी स्वामी जी ने आलोचना करते हुए कहा था– ''सरकार कागज को बेचती है और कागजों पर बहुत सा धन बढ़ा दिया है। इससे गरीब लोगों को बहुत क्लेश पहुंचता है......सो यह बात राजा को कभी उचित नहीं, क्योंकि इसके होने से गरीब लोग दुःख पाकर बैठे रहते है। कचहरी में बिना धन के कुछ बात होती नहीं। इससे कागजों पर जो बहुत धन लगाया जाता है, वह मुझकों अच्छा मालूम नहीं देता।'' स्वामी जी का यह विचार था कि अदालतें चोरों, जुआरियों तथा व्यभिचारियों को बहुत हल्का दण्ड देती है। उनका विचार था कि मनुस्मृति के अनुसार ऐसे अपराधों में भारी कमी होगी। यदि न्यायाधीश कोई भूल करें तो उन्हें भी

ISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 2, Issue 01, Jan 2019

दण्ड दिया जाना चाहिए। पुलिस में अच्छे आदमियों को भर्ती किया जाना चाहिए। स्वामी दयानन्द का यह भी विचार था कि ''राज्य द्वारा गौ, बैल आदि उपयोगी पशुओं का संरक्षण किया जाना चाहिए। एक गौ अपने दूध से 1 लाख व्यक्तियों का पोषण कर सकती है, जबकि उसके मांस से बड़ी मुश्किल से 80 व्यक्तियों का पेट भर सकता है।''

स्वामी जी के द्वारा ब्रिटिश विरोधी दृष्टिकोण अपनाने के तीन बड़े कारण थे। अपनी पंजाब–यात्रा में स्वामी जी ने यह देखा था कि ईसाई कितनी प्रबलता से हिन्दू धर्म पर कुत्सित आक्षेप कर रहे थे, अतः सत्यार्थप्रकाश के तेरहवें समुल्लास में उन्होंने ईसाइयों को उसी शैली और भाषा में मुंहतोड़ उत्तर दिया जिसमें ईसाई हिन्दू धर्म पर आक्षेप कर रहे थे। ''उनका यह विश्वास था कि यदि मिशनरी प्रचारक भारत को ईसाई बनाने में सफल हुए, तो भारत में स्थायी रूप से ब्रिटिश राज्य बना रहेगा, उसके स्वाधीन होने की आशा नहीं रहेगी। स्वामी जी की दृष्टि में ईसाई और ब्रिटिश शासन अभिन्न थे। दूसरा कारण यह था कि स्वामी जी ने शनैःशनैः यह अनुभव किया कि उस समय अंग्रेज हमें जंगली तथा घृणित समझते थे और अपने भारतीय नौकरों को इतना पीटते थे कि कई बार उनकी मृत्यु हो जाती थी। किन्तु अदालत में मामला चलने पर वे बरी कर दिये जाते थे। भारतीयों के साथ यह अन्याय स्वामी जी को सहन नहीं था। अतः बाइबल की आलोचना में उन्होंने तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति का संकेत करते हुए बड़े व्यंग्यपूर्ण शब्दों में लिखा है कि – ''अनुमान होता है कि ईसाई लोग ईसाइयों का बहुत पक्षपात कर किसी गोरे ने काले को मार दिया हो तो भी बहुधा पक्षपात से निरपराधी (बना) कर (गोरे को) छोड़ देते थे। ऐसा ही ईसा के स्वर्ग का भी न्याय होगा।'' तीसरा कारण अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण था। नमक के कर से एक सामान्य खेती करने वाले किसान को अपनी गाढ़े पसीने की आधी कमाई सरकार को देने के लिए विवश होना पड़ता था। उन दिनों अंग्रेज भारत को आर्थिक दृष्टि से बुरी तरह लूट रहे थे। ब्रिटिश शासन व्यवस्था की तुलना एक ऐसे स्पंज से की जाती थी जो भारत की समृद्धि को सोखकर इंग्लैण्ड में उड़ेलने का सफल प्रयास कर रहा है। अंग्रेजों द्वारा भारत के शोषण पर कटु व्यंग्य करते हुए स्वामी जी ने लिखा है– ''वाह, तभी तो ईसाई लोग परदेशियों के माल पर ऐसे झुकते हैं कि जानो प्यासा जल पर, भूखा धन पर।''

19वीं शताब्दी में ब्रिटिश शासकों ने यह नीति बनाई थी कि शिक्षणालयों में अंग्रेजी भाषा को प्रमुख स्थान दिया जाये, शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग किया जाये और सरकारी कार्य के लिए यही भाषा काम में लायी जाये। महर्षि दयानन्द इसे सर्वथा अवांछनीय और अनुचित समझते थे। उन्होंने सम्भवतः सबसे पहले इसके विरूद्ध आवाज उठायी और हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने पर तथा सरकारी कार्यों के लिए प्रयोग में लाने पर बल दिया वे हिन्दी के लिए आर्यभाषा का प्रयोग करते थे, क्योंकि इसे वे सम्पूर्ण आर्यावर्त की भाषा मानते थे। सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में उन्होंने शिक्षा में इसे महत्वपूर्ण स्थान देते हुए लिखा था कि बच्चों की शिक्षा का प्रारम्भ देवनागरी लिपि से कराया जाए। उनके पठन–पाठन की विधि में संस्कृत और हिन्दी का प्रमुख स्थान है। राजकीय कार्यों और आपसी व्यवहार में वे इसी भाषा का प्रयोग करने पर बल देते थे। उनकी प्रेरणा से सरकार को इस आशय का एक ज्ञापन या मैमोरियल देने की तैयारी की गई थी। इसमें इस बात पर बल दिया गया था ''कि राजकाज में हिन्दी का प्रयोग किया जाये। उन्होंने लाला कालीचरण,

ISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 2, Issue 01, Jan 2019

रामचरण और बाबू दुर्गाप्रसाद को इस बारे में पत्र लिखते हुए बताया था कि पंजाब आदि के राज–कार्य में आर्यभाषा के प्रयोग के लिए सरकार को मैमोरियल भेजे गये गये हैं। परन्तु फर्रूखाबाद, कानपुर, बनारस आदि स्थानों से नहीं भेजे गये हैं। यहां से भी मैमोरियल भिजवाएं जाने चाहिये। इस प्रकार महर्षि ने हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा तथा सरकारी कामकाज की भाषा के लिए आन्दोलन चलाया था।'' वे बच्चों की शिक्षा में प्रथम और प्रधान स्थान आर्यभाषा को देते थे। उन्होंने जोधपुर नरेश को एक पत्र में लिखा था कि महाराजकुमार को 25 वर्ष तक ब्रह्यचर्य व्रत का पालन कराते हुए पहले देवनागरी भाषा की, पुनः संस्कृतविद्या की शिक्षा दी जानी चाहिए और इसके बाद समय हो तो अंग्रेजी पढ़ाई जाये। स्वामी जी देश की उन्नति के लिए हिन्दी का प्रचार तथा प्रसार आवश्यक समझते थे। उनकी प्रबल इच्छा थी कि कश्मीर से कन्याकुमारी तक सभी भारतीय एक भाषा में बोलने लगें। यद्यपि महर्षि दयानन्द की मातृभाषा गुजराती थी। इसके साथ ही वे संस्कृत क प्रकाण्ड पण्डित थे। स्वामी जी द्वारा हिन्दी के प्रयोग को आरम्भ करने का दूसरा कारण यह भी था कि जब उनके संस्कृत भाषा में दिये गये भाषण का अनुवाद स्थानीय लोकभाषा में जनता को समझने के लिए किया जाता था तो अनुवादक इसमें अपनी ओर से बहुत–सी बातें जोड़ देते थे। इस कारण स्वामी जी के विचार शुद्ध रूप से जनता तक नहीं पहुंच सकते थे। कलकत्ता में छपने वाले 'इण्डियन मिरर' नामक पत्र के 22 जनवरी 1873 ई0 के अंक में यह समाचार छपा था कि स्वामी जी के एक संस्कृत भाषण का जब पण्डित महेशचन्द न्यायरत्न ने बंगला में अनुवाद किया तो उन्होंने इसमें बहुत सी ऐसी नई बाते जोड़ दी, जो स्वामी जी ने कही नहीं थी। इसके बाद से स्वामी जी ने हिन्दी में भाषण देने और लिखने का निश्चय किया। इस कार्य में उन्हें दो बंगलाभाषियों–भूदेव मुखोपाध्याय और राजेन्द्रलाल से बड़ा प्रोत्साहन मिला। ये दोनों बंगाली हिन्दी को सारे भारत की राष्ट्रभाषा बनाने के प्रबल समर्थक थे।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त स्वामी जी द्वारा हिन्दी के प्रयोग पर बल दिये जाने का बड़ा कारण राष्ट्रीयता एकता की भावना को सुदृढ़ बनाने की आकांक्षा थी। इसे स्पष्ट करते हुए स्वामी जी की जीवनी के नवीनतम लेखक आस्ट्रेलिया के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केनबरा के प्राध्यापक जोर्डन्स ने यह ठीक ही लिखा है– बनारस से लाहौर तक, बम्बई तक वे जहां भी गये, उन्होंने हिन्दी का व्यवहार किया। यह सुविधाजनक नीति ही थी। क्योंकि हिन्दी समूचे उत्तर भारत में समझी जाती थी, किन्तु यह सिद्धान्त की भी बात थी। गुजरात में स्वामी जी अपनी मातृभाषा गुजराती में उपदेश दे सकते थे। स्वामी जी की यह प्रबल इच्छा थी कि सब भारतीय हिन्दी का अध्ययन करें, ताकि राष्ट्र की एकता पुष्ट हो सके। इस दृष्टि से वे सभी के लिए हिन्दी भाषा पढ़ना आवश्यक समझते थे। जब कभी उनके सामने अनेक ग्रन्थों को दूसरी भाषा में अनुवाद करने का प्रस्ताव रखा गया, तो वे इसका विरोध करते रहे। एक बार एक पंजाबी भक्त ने स्वामी जी से उनके समस्त ग्रन्थों का उर्दूभाषा में अनुवाद करने की अनुमति मांगी। स्वामी जी ने बड़े प्रेम से इस भक्त को उत्तर देते हुए कहा– 'भाई, मेरी आंख तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही है जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लग जायेंगे, जिन्हे सचमुच मेरे ग्रन्थों को जानने की इच्छा होगी, वे आर्यभाषा का सीखना अपना कर्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करते है।'' भारतीय संविधान के आधारभूत तत्वों में प्रजातन्त्र और सामाजिक न्याय की गणना बहुत प्रमुख रूप से की जाती है। स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में इन दोनों सिद्धान्तों पर बहुत बल दिया है। स्वामी जी ने राज्य

ISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 2, Issue 01, Jan 2019

के प्रमुख अधिकारी के लिए 'राजा' शब्द का प्रयोग किया है किन्तु उनका राजा वंशपरम्परागत स्वेच्छाचारी शासक नहीं, अपितु जनता द्वारा निर्वाचित किया गया ऐसा व्यक्ति है, जो सभा के सहयोग एवं परामर्श से राज्य का शासन करता है। वे इसे इतना अधिक महत्व देते थे कि ऋग्वेद–भाष्य में उन्होंने प्रायः सर्वत्र राजा का अर्थ सभापति और सभाध्यक्ष किया। ''राजा होने के लिए वे यह आवश्यक समझते थे कि प्रजाजन आपस में सम्मति करके किसी उत्कृष्ट गुणयुक्त व्यक्ति को सभापति या राजा बनाएं (यजुर्वेद 12/11)'' वही राजा होने योग्य है, जिसकों समस्त प्रजाजन स्वीकार करें (ऋक0 2/1/8)। वे भारत के इक्ष्वाकु आदि प्राचीन आर्य राजाओं को प्रजा द्वारा निर्वाचित समझते थे।

स्वामी जी का यह विश्वास था कि एकतन्त्र की व्यवस्था प्रजा के हित की दृष्टि से बड़ी घातक है। ऐसा राजा प्रायः निरंकुश हो जाता है और प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार करने लगता है। इस सम्बन्ध में छठे समुल्लास के प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है– ''जैसे सिंह वा मांसाहारी ह्रष्ट–पुष्ट पशु को मारकर खा लेते है, वैसे स्वतंत्र राजा प्रजा का नाश करता है, अर्थात् किसी को अपने से अधिक नहीं होने देता। श्रीमान को लूट–खसोट अन्याय से दण्ड देकर अपना प्रयोजन पूरा करेगा।'' ''राजा पर सभा का नियंत्रण होना चाहिए। जहां ऐसा नहीं होता है, वहां प्रजा सदा पीड़ित होती है। एक पुरूष को कभी राजा नहीं बनाना चाहिए। सभा द्वारा ही राज्य का प्रबन्ध किया जाना चाहिए।'' राज्य के संचालन के लिए महर्षि दयानन्द ने तीन सभाओं का प्रतिपादन किया है। राजा को इन सभाओं के परामर्श से ही शासन का संचालन करना चाहिए। ये सभाएं राजा की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध लगाने का काम करती थी। ये तीन सभाएं हैं– 1. राज्य की व्यवस्था और प्रबन्ध के लिए आर्य राज्य सभा या राजार्य सभा। 2. सब प्रकार की विद्याओं के प्रचार का कार्य करने वाली आर्य विद्या या विद्यार्य–सभा। 3. धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि का कार्य करने वाली आर्य धर्म सभा या धर्मार्य सभा। ये तीनों सभाएं अपने विशेष कार्य करने के अतिरिक्त सामान्य विषयों के लिए परस्पर मिलकर कार्य करती है। स्वामी जी आदर्श लोकतंत्र की प्रणाली का अनुसरण करते हुए सब व्यक्तियों को गुण–कर्म और स्वभाव के अनुसार समाज में स्थान देने की व्यवस्था करते है। जब वे कार्य–क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, उस समय भारतीय समाज में जातिप्रथा बद्धमूल थी। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का स्थान समाज में उसके जन्म से निश्चित होता है। यदि वह ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ है तो उसके लिए राज्य के उच्चतम पद प्राप्त करने की सब सुविधाएं है, किन्तु यदि दुर्भाग्यवश वह एक शूद्र के घर में जन्म लेता है तो उसके लिए उन्नति के सब द्वार बन्द है और वह अपनी उन्नति के अवसरों से वंचित है।

वर्तमान युग में लोकतंत्र में बड़ा भ्रष्टाचार पाया जाता है और यह माना जाता है कि धर्म का राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। चुनाव जीतने के लिए सभी प्रकार के नैतिक–अनैतिक उपायों का अवलम्बन किया जाता है। राजनीति और नैतिकता सर्वथा भिन्न वस्तुएं मानी जाती है। प्रतिदिन समाचारपत्रों में राजनीतिज्ञों तथा मंत्रियों के भ्रष्टचार के मामलों के विवरण प्रकाशित होते रहते है। स्वामी जी राजा एवं राज्य की महत्वपूर्ण सभाओं के सभासदों के लिए उच्च चरित्र सम्पन्न होना अतीव आवश्यक समझते है। वे निरन्तर इस बात पर बल देते है कि राज्य के पदों पर सद्गुणी व्यक्तियों को ही निर्वाचित किया जाना चाहिए। ऋग्वेद भाष्य (3/35/7) में उन्होंने लिखा है कि– ''राज्य की

विभिन्न सभाओं के सभासद् ऐसे होने चाहिए जो कुटिलता का विनाश करने वाले हों, दुष्टों के प्रति कठोर और श्रेष्ठों के प्रति कोमल हों, शास्त्रों के ज्ञाता हों और राजभक्ति को बढ़ाने की सामर्थ्य रखते हों, ईश्वर से भय खाते हुए वे सदा अधर्म की पराजय तथा धर्म की विजय के लिए प्रयत्नशील रहने वाले हों।'' राज्य की सभाओं के सभासदों की भांति राज्य के नागरिकों का चरित्र भी ऊँचा होना चाहिए। स्वामी जी ने जिस धर्माथ सभा की व्यवस्था की है, उसका प्रधान कार्य जनता को धार्मिक गुणों से युक्त, सच्चरित्र और कर्तव्यनिष्ठ बनाना है। राज्य की वृद्धि और समृद्धि उसके नागरिकों के चरित्र पर अवलम्बित होती है। अतः महर्षि यह आवश्यक समझते है कि नागरिकों के सब गुणों के विकास का प्रयत्न किया जाये। जनता को सच्चरित्र बनाने का कार्य ऐसे उपदेशकों द्वारा किया जाये जो धर्माथ सभा के तत्वावधान में नियुक्त हो। यजुर्वेद के एक मन्त्र (12/59) को भाष्य में स्वामी जी ने लिखा है– ''राजा और प्रजाजनों को चाहिए कि जो जितेन्द्रिय धर्मात्मा और परोपकार में प्रीति रखने वाले विद्वान होवे, उनकों प्रजा में धर्मापदेश के लिए नियुक्त करें और उपदेशकों को चाहिए कि प्रयत्न के साथ सबकों अच्छी शिक्षा दे। एक धर्म में निरन्तर विरोध को छोड़कर स्तुति करें।'' धर्माथ सभा के व्यक्तियों का कार्य प्रजाजनों को धार्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ बनाना और धर्म का उपदेश करना था। ''स्वामी जी 'धर्म' शब्द का प्रयोग किसी संकीर्ण अथवा विशिष्ट धर्म के लिए नहीं करते है अपितु धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, घी, विद्या, सत्य व अक्रोध के दस नैतिक गुणों के लिए करते है।''

इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि स्वामी जी मनुष्य उसी को कहते है जो सर्वथा निर्भय हो और अतीव शक्तिशाली, अन्यायकारी से भी न डरता हो। उन्होंने अपने **स्वमंतव्यामंतव्य प्रकाश** में लिखा है– ''मनुष्य उसी को कहना जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख–दुःख और हानि–लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व–सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महाअनाथ निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण, और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ महाबलवान और गुणवान भी हो तथापि उसका नाश, अवनति, अप्रिय आचरण सदा किया करें। अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करें। इस काम में चाहे कितना ही दारूण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भले ही चले जायें, परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवें।'' स्वामी जी भारत की पराधीनता का कारण चरित्र का नैतिक अधःपतन समझते थे। ''सत्यार्थप्रकाश में दो स्थलों पर इन कारणों की विवेचना करते हुए उन्होंने बताया है कि आपसी फूट, धार्मिक मतभेद, शिक्षा की कमी, बाल–विवाह, स्वयंवर–पद्धति का न होना, विषयभोग में लिप्त होना, असत्य भाषण, वेदाध्ययन की उपेक्षा भारत के विदेशियों से पादाक्रान्त होने के प्रधान कारण हैं।'' अतः वे स्वतंत्रता–प्राप्ति के लिए चरित्र की शुद्धि और नैतिक उन्नति को आवश्यक समझते थे और यह चाहते थे कि भारत में वैदिक युग की उच्च आध्यात्मिकता और नैतिकता का वातावरण होना चाहिये। जब तक ऐसा वातावरण नहीं होता है, तब तक भारतीय स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकते और यदि स्वाधीनता प्राप्त हो भी जाये तो उसकी अच्छी तरह रक्षा नहीं कर सकेंगे। स्वतन्त्रता प्राप्ति की पहली शर्त नैतिक उन्नति के कारणों की विवचेना करते हुए स्वामी जी ने 11वें समुल्लास में लिखा है– ''यूरोपियनों में बाल्यवस्था में विवाह न करना, लड़का–लड़की को विद्या और सुशिक्षा करना–कराना,

स्वयंवर–विवाह होना, बुरे–बुरे आदमियों का उपदेशक नहीं होना, वे विद्वान होकर जिस किसी के पाखण्ड में नहीं फंसते। जो कुछ करते किसी के पाखण्ड में नहीं फंसते। जो कुछ करते हैं, वह सब परस्पर विचार और सभा से निश्चित हैं, वह सब परस्पर विचार और सभा से निश्चित करके करते है। अपने स्वजातीय की उन्नति के लिए तन–मन–धन व्यय करते है। आलस्य को छोड़ उद्योग किया करते हैं। देखों अपने देश के बने हुए जूते को ऑफिस और कचहरी में जाने देते है, इस देशी जूते को नहीं। इतने में ही समझ लें कि अपने देश के बने हुए जूतों का भी कितना मान–प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते.....जो जिस काम पर रहता है उसकों यथोचित करता है, आज्ञानुवर्ती बराबर रहते है। अपने देश वालों को व्यापर में सहायता देते हैं। इत्यादि गुणों और अच्छे–अच्छे कामों से उनकी उन्नति हैं।''

इस उद्धरण से तथा इस समूचे प्रकरण से यह स्पष्ट है कि स्वामी जी अंग्रेजों की उन्नति का मूल कारण कर्तव्यपालन की भावना, कर्मठता, स्वदेशप्रेम, देशाभिमान, शिक्षा, बड़ी आयु में विवाह करना, पाखण्ड में न फंसना, बुरे आदमियों से बचे रहना, परस्पर विचार और सभा से निश्चित किए हुए निर्णयों का अनुशरण करना समझते थे। ''उनका यह विश्वास था कि भारतीय जब तक इन गुणों को नहीं अपनायेंगे, देश के हित को व्यक्तिगत स्वार्थ से अधिक महत्व नहीं देंगे, आलस्य, फूट, अशिक्षा, अज्ञान, बालविवाह आदि भीषण दुर्गुणों को दूर नहीं करेंगे, चरित्र को शुद्ध–पवित्र और निर्मल नहीं बनाएंगे, तब तक वे उन्नति नहीं कर सकेंगे, स्वतन्त्र नहीं हो सकेंगे। सामाजिक एवं राष्ट्रीय पुनरूज्जीवन के लिए और विदेशी दासता से मुक्त होने के लिए चरित्र की शुद्धि और पवित्रता अतीव आवश्यक है।''

राजनीति को प्रायः कूटनीति और कपटनीति समझा जाता है। इसमें सब प्रकार के नैतिक साधनों को प्रयोग अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए वांछनीय माना जाता है। सब प्रकार की धोखाधड़ी और छल के साधनों का उपयोग बुरा नहीं माना जाता है। किन्तु महात्मा मुंशीराम ने अपने गुरू का अनुसरण करते हुए राजनीति में साध्य एवं साधन दोनों ही की पवित्रता पर बल दिया। उनकी दृष्टि में स्वराज्य का अर्थ अपने मन, इन्द्रियों तथा वासनाओं पर नियन्त्रण रखना था। राजस्व न केवल राजनैतिक, अपितु आध्यात्मिक भावना थी। राजनैतिक क्षेत्र में भारत तभी स्वराज्य प्राप्त कर सकता था जब भारतवासियों का नैतिक चरित्र इतना ऊँचा उठ चुका हो कि उन्हें अपनी इन्द्रियों तथा मन पर पूरा स्वराज्य प्राप्त हो। सूरत–कांग्रेस के अधिवेशन की घटनाओं के सम्बन्ध में उन्होंने टिप्पणी करते हुए 'सद्धर्म प्रचारक' में लिखा था– आज तुम्हारी अपनी इन्द्रियां तुम्हार वश में नहीं है। जब अपने मन पर तुम्हारा अधिकार नहीं है, तब तुम दूसरों से क्या अधिकार प्राप्त कर सकते हो? जिस कांग्रेस का आधार अधर्म है, उसका प्राप्त कराया स्वराज्य कभी भी फलदायक न होगा, कभी भी सुख शान्ति का राज्य फैलने वाला न होगा।......एक ऐसे धार्मिक दल की आवश्यकता है जो विरोधी को धोखा देना भी वैसा ही पाप समझता हो, जैसा कि अपने भाई को। जो सरकारी अत्याचारों को प्रकट करते हुए अपने भाईयों की दुष्टता तथा उनके अत्याचारों को भी न छिपाने वाला हो, जो मौत के भय से भी न्याय के पथ को छोड़ने तक का विचार मन में न लाने वाला हो, पोलिटिकल जगत में ऐसे अग्रणी की आवश्यकता है। क्या कोई महात्मा आगे आने का साहस करेंगा? और क्या उसके पीछे

ISSN 2581-8996
ONLINE
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 2, Issue 01, Jan 2019

चलने वाले पांच पुरूष भी निकलेंगे? यदि इतना भी नहीं हो सकता तो स्वराज–प्राप्ति के प्रोग्राम को पचास वर्षों के लिए तह करके रख दो।'' इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि दयानन्द के चिन्तन तथा आर्यसमाज के क्रियाकलाप ने भारत में नवजागरण के एक नये युग का सूत्रपात किया। महर्षि दयानन्द की विचारधारा ने भारत के उग्रवादी तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन को एक नई दिशा दी। यही कारण था कि भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाले 85 प्रतिशत से भी अधिक आर्यसमाजी थे। वास्तव ब्रिटिश काल में राजनीतिक संचेतना के उद्भाव तथा विकास में महर्षि दयानन्द सरस्वती की भूमिका स्वर्णाक्षरों में अंकित किये जाने के योग्य है।

संदर्भः

1. डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार : आर्य समाज का इतिहास, भाग–4, आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली, 1990, पृ0–75–76
2. वही, पृ0–76
3. आर्य समाज का इतिहास, भाग–4, पृ0–77
4. डॉ0 नमिता मैंगी : आर्यसमाज का आत्म कथा साहित्य, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ0–144
5. वही, पृ0–148
6. डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार : आर्य समाज का इतिहास, भाग–4, आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली, 1990, पृ0–79
7. यजुर्वेद (12/11)
8. ऋग्वेद (2/1/8)
9. डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार : आर्य समाज का इतिहास, भाग–4, आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली, 1990, पृ0–120
10. वही, पृ0–80
11. वही, पृ0–90
12. महर्षि दयानन्द सरस्वती : सत्यार्थ प्रकाश, आर्यावर्त प्रकाशन, अमरोहा, 2016, पृ0–432
13. महर्षि दयानन्द सरस्वती : सत्यार्थ प्रकाश, आर्यावर्त प्रकाशन, अमरोहा, 2016, पृ0–228
14. अवस्थी व अवस्थी : आधुनिक भारतीय राजनीतिक व सामाजिक चिन्तन, रिसर्च पब्लिकेशन्स, 2002, पृ0–148
15. आर्य समाज का इतिहास, भाग–4, पृ0–82
16. इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा उद्धृत, आर्यसमाज का इतिहास, दूसरा भाग, पृ0–109